कृपा

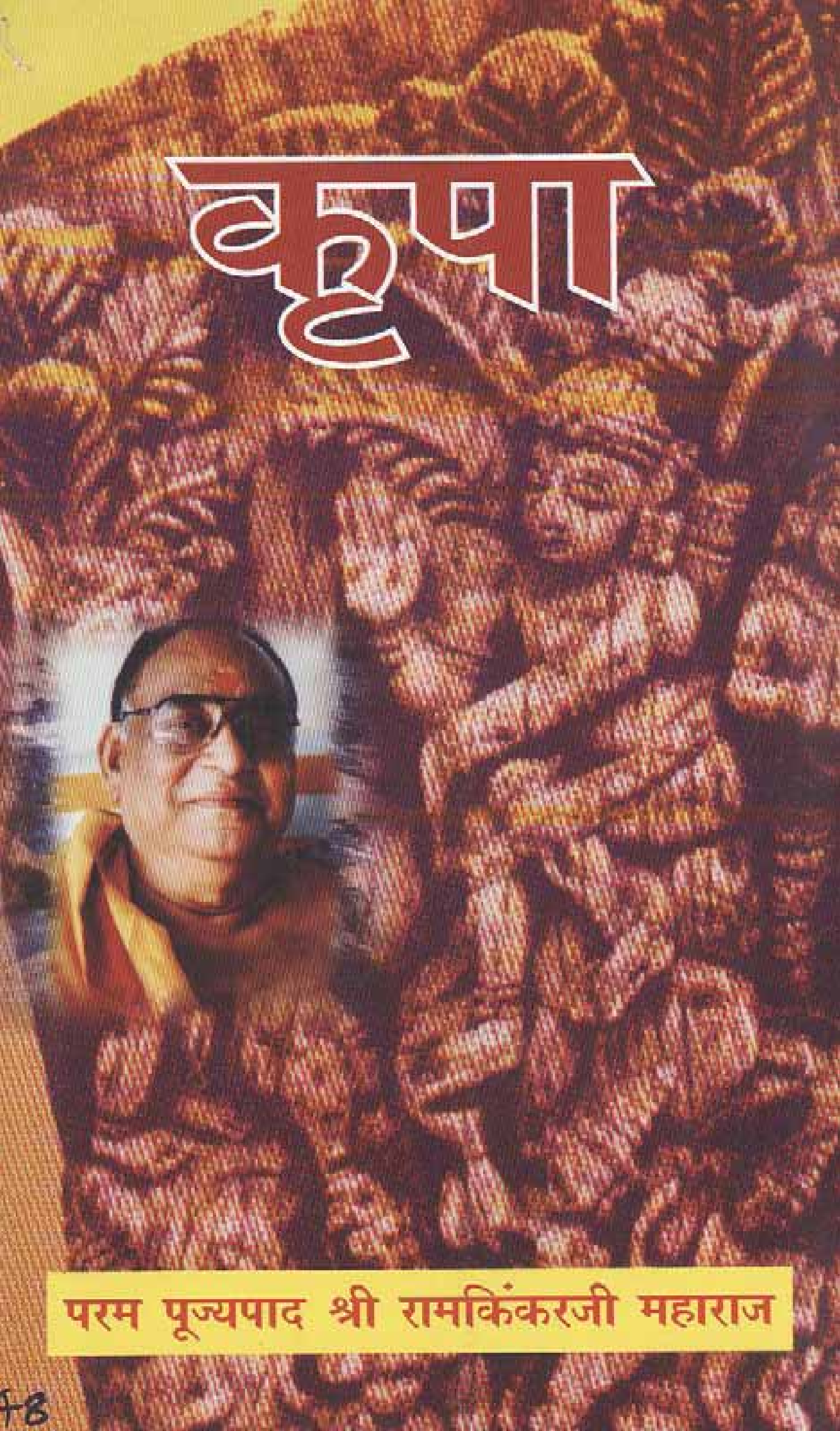

परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज

प्रकाशक :
रामायणम् ट्रस्ट
रामायणम् आश्रम, परिक्रमा मार्ग, जानकी घाट
श्रीधाम अयोध्या-224 123
फोन - (05278) 232152

सन् 2007, श्री गुरुपूर्णिमा, सम्वत् 2064

सर्वाधिकार सुरक्षित
© रामायणम् ट्रस्ट, श्रीधाम अयोध्या

संशोधन : डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

मूल्य : 30/-

मुद्रक : गोसपेल प्रेस, लखनऊ
फोन : +91522-4007705
ई-मेल : gospel_paperprint@yahoo.co.in

।। श्री रामः शरणं मम।।

अनुवचन

कलियुग की विभीषिका और जटिलता की ओर उत्तरकाण्ड में मानसकार ने इंगित किया है। मनुष्य अपने आंतरिक दोष और त्रुटियों को देख नहीं पाता और इसीलिए पाप और उसके कारण उत्पन्न होने वाले दुःख का उन्मूलन नहीं हो पाता। व्यक्ति के सामने कठिनाई यह है कि वह पहचाने भी तो कैसे? सत्कर्म के वृक्ष की आड़ में जब पाप छिप जाते हैं, दान की आड़ में लोभ, सत्य की आड़ में अहंकार, नियम की आड़ में दंभ और अभेदज्ञान की आड़ में भोगलिप्सा की वृत्तियाँ छिपी रहती हैं।

काम, क्रोध, लोभ आदि समस्त दोस मोह का सम्पूर्ण परिवार है जो प्रकट रूप में अधिकांश में हैं और बीज रूप में सबमें -

हहिं सबके लखि बिरलेन्हि पाए।

जब तक इनकी सत्ता बनी हुई है, उनके कारण सृजित दुःख, सुख, क्लेश, अशान्ति से व्यक्ति कभी ऊपर नहीं उठ सकता। उपाय क्या है? गोस्वामीजी लिखते हैं-

राम कृपा नासै सब रोगा।
जो एहिं भाँति बनइ संजोगा।।

विशेष रूप से कलियुग के संदर्भ में इस विभीषिका का सर्वसुलभ उपाय जिसको गोस्वामीजी सर्वाधिक महत्त्व देते हैं वह है- "श्रीराम का नाम।" बालकाण्ड में आदि से अंत तक भगवान् राम तथा उनके नामकी बड़ी सुंदर तुलना करते हैं।

गोस्वामीजी का मानना है कि श्रीराम ने तो एक तपस्वी की पत्नी (अहल्या) का उद्धार किया। परन्तु उनके पवित्र रामनाम ने करोड़ों व्यक्तियों की कुमति को सुधारा। श्रीराम ने महर्षि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के हेतु ताड़का एवं उसके पुत्र सुबाहु का, सेना सहित क्षण-भर में ही वध कर दिया, परंतु 'नाम' भगवान् दास (भक्त) के दुःख एवं दुराशाओं को दोष समेत नष्ट कर देते हैं, जैसे सूर्यदेव रात्रि का। भगवान् श्रीराम ने स्वयं भगवान् शंकर के धनुष को तोड़ा परन्तु 'नाम' का प्रताप संसार के भयों को विनष्ट करता है। भगवान् श्रीराम जब

दण्डक वन में पधारते हैं तो वह बड़ा ही शोभायमान हो जाता है, किन्तु 'नाम' भगवान् ने असंख्य मनुष्यों के मन पवित्र कर दिये। श्री रघुनाथजी ने राक्षसों के समूह को मारा परन्तु 'नाम' तो कलियुग के सारे पापों की जड़ उखाड़ने वाला है। श्री रघुनाथ जी ने तो शबरी, जटायु आदि उत्तम सेवकों को शुभगति प्रदान की, किन्तु 'नाम' ने तो अगणित दुष्टों का उद्धार किया। 'नाम' के गुणों की कथा वेदों में प्रसिद्ध है। श्री रामजी ने तो सुग्रीव एवं विभीषण दो को ही अपनी शरण में रखा किन्तु 'नाम' ने तो अनेकों गरीबों पर कृपा की है। श्रीरामजी ने भालुओं तथा बंदरों की सेना बटोरकर समुद्र पर पुल बाँधने के हेतु कम परिश्रम नहीं किया, परन्तु 'नाम' लेते ही संसार-समुद्र सूख जाता है। सज्जनगण विचार करके देखें कि दोनों में कौन बड़ा है? श्रीराघवेन्द्र ने कुटुम्ब सहित रावण का वध कर दिया तब श्री सीताजी के साथ अपने नगर (अयोध्या) में पदार्पण किया। श्रीरामजी राजा हुए और अयोध्या उनकी राजधानी हुई, देवता एवं मुनिगण सुन्दर वाणी से उनके गुण गाते हैं। परन्तु सेवक (भक्त) प्रेमपूर्वक 'नाम' के स्मरण-मात्र से ही बिना परिश्रम 'मोह' की प्रबल सेना को जीतकर प्रेम में मग्न हुए अपने ही सुख में विचरते हैं। 'नाम' के प्रसाद से उन्हें स्वप्न में भी कोई चिन्ता नहीं सताती।''

यह राम नाम रूपी महामंत्र का जप करने के सब अधिकारी हैं, यही ''रामकृपा'' है।

सद्गुण सम्पन्न श्री गणात्रा दंपति बहुत अच्छे राम नाम के साधक हैं, उनके स्वभाव की तेजस्विता और सेवा में अधीरता श्रीराम से जुड़कर उनके लिये भूषण बन गयी। सौभाग्यवती अंजुजी की श्रद्धा, समर्पणभाव जो मैंने अनुभव किया वह दुर्लभ है।

सत्साहित्य प्रकाशन में उनकी यह सेवा असंख्य भक्तों के लिये प्रेरणारूप रहेगी। उनके स्वर्गीय माता पिता उनकी मातृ-पितृ एवं गुरुभक्ति देखकर अवश्य आश्वस्त एवं प्रसन्न होंगे।

सम्पूर्ण गणात्रा परिवार के प्रति मंगलकामना करते हुए प्रभु से प्रार्थना! उनके जीवन में सुचिता, सुमधुरता एवं सुमति बनाये रखें।

निष्ठा एवं समर्पण भाव से कार्यरत डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी इस

सत्संकल्प को साकार करने में मन-प्राण से लगे हुए हैं। उनकी श्रद्धा बलवती हो! यही शुभाशीष।

रामायणम् ट्रस्ट के ट्रस्टीगण को मैं क्या धन्यवाद दूँ! वे तो मेरे अपने हैं। उनका स्नेह सद्भाव सदैव बना रहे यही प्रभु के चरणों में निवेदन!

अन्य सभी सेवादार एवं नरेन्द्र शुक्ल जिन के अथक परिश्रम से यह ग्रन्थ आप सभी सुधी साधकों को समर्पित है, के प्रति शुभाशीष!

प्रभु की सुगंध, प्रभु का सौरभ प्रभु का स्पन्दन सबके जीवन में हो, यही मंगलकामना है।

त्वदीयं वस्तु श्रीराम तुभ्यमेव समर्पये।

सादर,

परम पूज्य महाराजश्री रामकिंकर जी की ओर से

मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

।। श्री रामः शरणं मम।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।
ह्रदय विराजत रामसिय और दास हनुमान।
ऐसे श्री गुरुदेव को बारम्बार प्रणाम।।

रामचरितमानस के प्रति प्रेम और आस्था के संस्कार हमारे परिवार में मेरे दादा श्री विट्ठलदास बालजी गणात्रा से मिला। पर मानस को रक्त में मिलाकर जीवन को अमृतमय बनाने का कार्य मेरे परम पूज्य सद्गुरुदेव रामायणमय वाणी के पर्याय श्रीरामकिंकरजी महाराज ने किया।

परम पूज्य श्री रामकिंकर महाराज का एक ग्रन्थ पढ़ते ही मुझे लगा कि जो मेरे पास नहीं है वह मानो मिल गया, अन्धकार से प्रकाश हो गया, घुटन के बाद हवा मिल गयी और संसार से विष के बदले अमृत मिलने लगा। सबसे पहले मैंने उनको लन्दन से मुम्बई आकर "बिरला मातुश्री सभागृह" में अपने बड़े भाई के साथ सुना। ऐसा सुदर्शन उनका दर्शन, ऐसा अमृतमय उनका वचन, ऐसी गम्भीर उनकी वाणी, अद्वितीय प्रस्तुतीकरण उस समय मुझे वे ही वे दिख रहे थे। हम जिस होटल में ठहरे थे, कृपापूर्वक हमलोगों के कहने पर वे वहाँ पर पधारे और हमने उन्हें हनुमानचालीसा, नवधा–भक्ति तथा श्रीमद्भगवद्गीता का बारहवाँ अध्याय "भक्ति–योग" सुनाया।

कुछ वर्षों तक ऐसे ही भारत आना–जाना लगा रहा, मैं भारत केवल महाराजश्री को ही सुनने आता था। मेरे और मेरी पत्नी अंजू के विशेष आग्रह पर उन्होंने ऐसी कृपा की, कि वे एक महीना के लिये लन्दन आये और चौदह या पन्द्रह प्रवचन किये। वहाँ जिज्ञासुओं ने उस अवसर पर पूरा लाभ उठाया। लन्दन के निवासियों के लिये वह स्मृति अविस्मरणीय हो गयी। महाराजश्री की पुस्तकों में व्यक्ति के जीवन, चिन्तन और दिशा बदलने की अभूतपूर्व सामर्थ्य है। भारत मूल का होने के नाते मुझे यहाँ की भूमि बहुत आकर्षित करती है, और उस आकर्षण का मूल कारण केवल यह है कि जहाँ प्रभु श्रीराम ने अवतार

लिया, जहाँ पर गंगा और सरयू का तट है और जिस भूमि पर एक ऐसे महापुरुष ने जन्म लिया जो मन, वचन और कर्म से राममय थे और राममय हो गये। उनकी कृपामूर्ति का दर्शन कर जैसे आज के समय में हमलोग गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की स्मृति करते हैं उसी तरह आज से हजारों वर्ष तक लोग परम पूज्य श्रीरामकिंकरजी महाराज के दर्शन और उनके अमृतमय साहित्य को पढ़कर अपने जीवन में मार्गदर्शन प्राप्त करते रहेंगे।

आज मनुष्य को जिस वस्तु की जरूरत है, वह है स्वस्थ चिन्तन और पवित्र दिशा। इसके अभाव में व्यक्ति कितना भी विकास क्यों न करे, उसको विकास नहीं माना जा सकता। रामायणम् ट्रस्ट को पूज्य महाराजश्री का यह वरदान प्राप्त है कि वह उनके चिन्तन को प्रसारित व प्रचारित करने के लिये अधिकृत है। मेरा यह मानना है कि जितनी भगवान् श्रीराम के नाम की महिमा है, उतनी ही महिमा परम पूज्य महाराजश्री के साहित्य की है, क्योंकि दोनों ही भगवान् के शब्दमय विग्रह हैं।

रामायणम् ट्रस्ट की अध्यक्ष श्रद्धेय मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी एवं सभी ट्रस्टियों का मैं अभारी हूँ कि जिन्होंने मुझे इस सेवा का अवसर दिया और भविष्य में भी मेरी यही भावना है कि ऐसी सेवा मैं करता रहूँ। आमतौर पर माना यह जाता है कि बड़े सत्कर्मों के परिणामस्वरूप सम्भव होता है जब गुरु कृपा होती है, पर मेरा मानना यह है कि मेरा तो कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जिसके फलस्वरूप मुझे ऐसे अवतार पुरुष की कृपा प्राप्त होती, यह तो उनकी अहैतुकी कृपा ही थी कि वे बिना कारण ही मुझ पर कृपा करते थे और करते हैं।

अपनी पूज्य माताजी और पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में यह सेवा करके मुझे जीवन में धन्यता का अनुभव हो रहा है।

श्री गुरुदेव का चरण सेवक,
अरुण गोर्धनदास गणात्रा और
अंजू अरुण गणात्रा, लन्दन

।। श्री रामः शरणं मम।।

कृपा

मेरे माध्यम से निःसृत प्रवचनों में मनोरंजन जैसी बातों का न तो प्रयासपूर्वक कोई समावेश ही है और न ही इसे मधुर बनाने के लिये किसी बाह्य साधन उपकरण का आश्रय ही लिया जाता है। मेरे प्रिय शिष्य मुझे बता रहे थे कि जो सज्जन इस प्रवचन-माला को टेप पर रिकॉर्ड कर रहे हैं (संभवतः वे कर्नाटक के हैं और हिन्दी भाषा ठीक से समझ- बोल नहीं पाते), वे कह रहे थे - यह गाता नहीं है, बजाता नहीं है, और हँसता नहीं है फिर भी मालूम नहीं इतना ज्यादा लोग इधर कैसे आ जाता है? उनका यह आश्चर्य स्वाभाविक ही है, क्योंकि सामान्यतया लोगों को यही लगता है कि कथा को मधुर बनाने के लिये इन सबकी आवश्यकता है। पर ऐसी बात नहीं है। भगवान् की कथा स्वयं ही अत्यन्त मधुर है। आप लोग गर्मी का कष्ट सहन करते हुए भी इतनी बड़ी संख्या में एकाग्रतापूर्वक कथा-श्रवण करने के लिये आते हैं, इसके द्वारा भगवत्कथा की महिमा और उसमें आप सबकी श्रद्धावृत्ति ही तो प्रकट होती है।

हम कह सकते हैं कि काम और क्रोध के बाद लोभ ही तीसरा प्रबल विकार है। रामचरितमानस में जहाँ गोस्वामीजी मानस रोगों का वर्णन करते हैं, वहाँ पर वे 'लोभ' का वर्णन करते समय उसके साथ एक शब्द, विशेष रूप से जोड़ते हुए कहते हैं कि -

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।। ७/१२०/३०

काम बात है, क्रोध पित्त है और जो 'अपार' लोभ है, वह कफ है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'अपार' शब्द यहाँ पर केवल लोभ के साथ जोड़ा गया है, काम या क्रोध के साथ नहीं। इसका अभिप्राय

है कि काम और क्रोध कभी अपार हो ही नहीं सकते। मनुष्य यदि चाहे तो भी दिन-रात काम में ही डूबा नहीं रह सकता। इसी प्रकार व्यक्ति के लिये यह संभव नहीं है कि वह निरंतर क्रोध में ही स्थित रहे। पर यह लोभ ही ऐसा विकार है कि व्यक्ति जीवन भर, चौबीसों घंटे इसमें डूबा रह सकता है। अन्य सब दोषों की तो कोई न कोई सीमा है, पर लोभ की तो कोई सीमा ही नहीं है, इसलिए सचमुच वह तो 'अपार' ही है।

गीताप्रेस ने धार्मिक जगत् की जो अद्वितीय सेवा की है, उससे आप सब परिचित हैं। उसके दो महान् संत श्री जयदयालजी गोयन्दका और श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार के बीच श्रीमद्भागवत के रासपंचाध्यायी को लेकर एक मतभेद हो गया। श्री गोयन्दकाजी का मत था कि श्रीमद्भागवत की जो टीका प्रकाशित की जाय उसमें रासपंचाध्यायी का प्रसंग रखा ही न जाय और न ही उसकी टीका प्रकाशित की जाय। भाईजी, श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार का आग्रह था कि इसे अवश्य रखा जाय अन्यथा श्रीमद्भागवत ग्रंथ तो निष्प्राण हो जायेगा। इस विवाद के कारण ग्रन्थ का प्रकाशन वर्षों तक अटका रहा और अंत में जब श्री गोयन्दकाजी सहमत हुए, तब रासपंचाध्यायी की टीका-सहित इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ। भाईजी और गोयन्दकाजी दोनों ही परम भागवत और श्रेष्ठ पुरुष थे पर दोनों की धारणाओं में कुछ भिन्नता थी।

श्री जयदयालजी को लगता था कि शृंगार का यह प्रसंग कुछ अश्लील-जैसा है और लोगों के मन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ सकता है। इससे व्यक्ति के मन में काम-वासना की वृद्धि हो सकती है। पर भाईजी मानते थे कि यह बात तो भागवत के रचनाकार महर्षि वेदव्यासजी तथा महान् वक्ता श्री शुकदेवजी महाराज के सामने भी आयी होगी और यदि वे इसे अश्लील मानते होते, तो न तो लिखते और न ही बोलते। भाईजी ने रासपंचाध्यायी के उस श्लोक की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिसमें व्यासजी कहते हैं 'इसे जो धारण करेगा, इसका जो पाठ करेगा, उसकी काम-वासना का शमन हो जायेगा -

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः

श्रद्धान्वितोनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।।
(श्रीमद्भागवत-१०/३४/४०

हृदयरोग अर्थात् काम का रोग!

दोनों ही मत अपने-अपने स्थान पर हैं और उचित भी प्रतीत होते हैं। पहली दृष्टि से तो यही लगता है कि शृंगार की बात यदि खुलकर लिखी जाय तो पढ़ने वाले के मन पर इसका बुरा असर पड़ेगा। पर भक्तों की दृष्टि भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वैसे दुरुपयोग करने की वृत्ति वाले तो अच्छी से अच्छी वस्तु का भी दुरुपयोग करते देखे जाते हैं। वे ऐसा करते ही रहेंगे और उन्हें रोका भी नहीं जा सकता। पर यहाँ जो बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह इस रूप में हमारे समक्ष आती है कि भगवान् कृष्ण की इस रसमयी दिव्यलीला को देखने के लिये आप कहाँ जायेंगे? क्या यह कोई बाहर देखने की वस्तु है? आप इसके सूत्र पर थोड़ा विचार करें!

भगवान् कृष्ण के हाथ में आप जो वंशी देखते हैं, उसकी महिमा और मधुरता का व्रज के संतों और भक्तों ने अपने ग्रन्थों में बहुत अधिक वर्णन किया है। पर आपने ध्यान दिया होगा कि श्यामसुंदर की यह वंशी केवल वृन्दावन तक ही उनके साथ रही, बजती रही। मथुरा या द्वारका में भगवान् कृष्ण के हाथ में वंशी फिर दिखायी नहीं देती। कुरुक्षेत्र में तो उसके बजने का प्रश्न ही नहीं है। जिस वंशीनाद को सुनकर गोपियाँ भगवान् कृष्ण की ओर आकृष्ट होती हैं, वह सर्वत्र निनादित नहीं हो सकता। उसके मुखरित होने के लिये अनुकूल भूमि तो एकमात्र वृन्दावन की भावभूमि ही है। व्यक्ति यदि वस्तु का रस स्थूल रूप से ही पाने का अभ्यस्त है, तो वह वस्तु और शरीर से ही जोड़कर आनंद की बात करेगा, पर हम बिना स्थूल वस्तु के अपनी भावना में भी रस और आनंद का अनुभव कर सकते हैं। वस्तुतः ज्यों-ज्यों व्यक्ति की वृत्ति सूक्ष्म होती जाती है, त्यों-त्यों उसका आनंद भी, शरीर और वस्तु से ऊपर उठकर, भावना से जुड़ जाता है। भगवान् कृष्ण की इस महारास की लीला का जो वर्णन किया गया है उसका

उद्देश्य ही यही है कि शरीर स्थूल जगत् से व्यक्ति ऊपर उठे और इस महारास के रस का आनंद भाव जगत् में ले और जिस भक्त को हृदय की भूमि में इस दिव्य रस को ग्रहण करने का अभ्यास हो जाता है, उसे फिर बाह्यजगत् में रस प्राप्ति के लिये भटकने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

साधक जब यह जिज्ञासा रखता है कि काम की वृत्ति का उपशमन कैसे हो सकता है? तो शास्त्र इसका उपाय बताते हुए यही कहते हैं कि 'ब्रह्मचर्य व्रत- उपवास और संयम के द्वारा काम पर नियंत्रण किया जा सकता है।' पर भक्त इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि भगवान् के रूप, गुण, लीला और चरित्र आदि के चिन्तन-मनन से काम का उपशमन हो जाता है। इसी प्रकार शास्त्र कहते हैं कि व्यक्ति यदि चाहे तो क्षमा के द्वारा धीरे-धीरे क्रोध को भी शान्त कर सकता है। मानस में इसीलिए ज्ञान-दीपक प्रसंग में क्षमा की तुलना वायु से करते हुए कहा गया कि -

तोस मरुत तब छमाँ जुड़ावै। ७/११६/१४

क्रोध को संयमित करने के लिये जैसे 'क्षमा' की आवश्यकता है, वैसे ही लोभ की वृत्ति पर विजय पाने के लिये दान देने की आवश्यकता है। व्यक्ति को जो कुछ भी प्राप्त होता है, यदि वह उसका उपयोग लोक-कल्याण के लिये दान देने में करता है तो स्वाभाविक है कि उसकी लोभ की वृत्ति भी घटने लगती है। क्योंकि वह दान देगा तो लोभ को छोड़कर ही तो देगा! शास्त्रों ने काम, क्रोध और लोभ इन तीनों को शान्त करने के लिये और भी अनेक उपाय बताये हैं, अब यह तो व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस उपाय से लाभ प्राप्त करता है।

शरीर के रोगों को मिटाने के लिये भी एलोपैथी, होम्योपैथी, नेचुरोपैथी आदि अनेक पद्धतियाँ हैं और प्रत्येक पद्धति में अनेकानेक दवाएँ हैं। यदि सही वैद्य मिल जाय, रोग का ठीक से निदान हो और दवा भी सही मिल जाय तो रोग कम हो सकता है, मिट सकता है। इसी प्रकार धर्मग्रन्थों में मन से संबद्ध रोगों के लिये भी यज्ञ, उपवास, दान, तप, दया, क्षमा तथा संयम आदि अनेक उपाय बताये गये हैं

जिनका पालन करने से व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन होता हुआ दिखायी देता है।

आज हम कृपा के बारे में कुछ चर्चा करेंगे। आज, मुझसे परिचित एक गायक महोदय ने प्रश्न किया कि कृपा के संदर्भ में प्रारब्ध और पुरुषार्थ का क्या स्थान है? और क्या कृपा से प्रारब्ध को टाला जा सकता है? कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ और सद्‌गुणों का व्यक्ति के जीवन में बड़ा महत्त्व है।

एक बार किसी श्रोता ने मुझसे पूछा कि वाल्मीकि रामायण को पढ़ने से लगता है कि राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं, वे न्याय और मर्यादा का पालन करते हैं। पर मानस को पढ़ने से ऐसा लगता है कि उसमें गोस्वामीजी भगवान् राम के इन गुणों पर जोर न देकर, बार-बार यही कहते हैं कि श्रीराम तो बड़े दयालु हैं। तो, आपकी दृष्टि में श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम हैं या कृपालु हैं? मैंने कहा कि वे तो दोनों ही हैं।

एक न्यायाधीश के संबंध में यदि हम वकील, अपराधी तथा प्रार्थी से प्रश्न करें तो जो उत्तर मिलेगा और उस न्यायाधीश के बारे में न्यायाधीश के नन्हे-से बालक से मिले उत्तर में भिन्नता तो होगी ही! न्यायाधीश की प्रशंसा करने वाला तो यही कहेगा कि वे बड़े निष्पक्ष हैं, बड़ा संतुलित निर्णय देते हैं, बड़ी कठोरता से न्याय करते हैं और कानून के बड़े ज्ञाता हैं। किसी न्यायाधीश के विषय में ऐसा भी सुनने को मिल सकता है कि वे कानून को जानते ही नहीं। पर यदि न्यायाधीश के छोटे से बालक से यह पूछा जाय कि तुम्हारे पिताजी कैसे हैं? तो वह नन्हा बालक क्या यह कहेगा कि वे कानून के पंडित हैं, या वे बड़े निष्पक्ष और कठोर न्याय करने वाले हैं? वह यही कहेगा कि ये तो मुझे प्यार करते हैं। उसके लिये तो वे पिता हैं। न्यायाधीश महोदय न्यायालय से घर आये। बच्चे ने ज्योंही देखा, तो वह उनकी गोद में कूद पड़ा। वह उन्हें न्यायाधीश थोड़े मानता है! वे बस पिता हैं। वह तो उनकी कान पकड़ सकता है और नाक हिला सकता है। अब क्या न्यायाधीश महोदय उसे अपनी मानहानि का दण्ड देंगे? अब प्रश्न उठता है कि फिर सत्य क्या है? तो, इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि आप न्यायालय में खड़े हैं या घर में बैठे हैं?

महर्षि वाल्मीकि जी ने जिस राम को देखा वे न्यायालय वाले राम हैं और तुलसीदासजी ने भगवान् राम का वह रूप देखा जो घर में दिखायी देता है। इसीलिए दोनों के दृष्टिकोण में भिन्नता है। गोस्वामीजी को भगवान् राम न तो मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में दिखायी देते हैं और न ही बहुत बड़े न्यायाधीश के रूप में दिखायी देते हैं। उनको तो बस यही दिखायी देता है कि श्रीराम से बढ़कर कोई कृपालु हुआ ही नहीं। इसका अर्थ है कि जिसने भगवान् राम का जिस रूप में परिचय पाया, उनसे जिस नाते से जुड़ा उसी दृष्टि से अपनी बात कह रहा है और वह स्वदृष्टि से ठीक कह रहा है। अतः ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं कि एक व्यक्ति की बात दूसरे को भी ठीक लगे।

मैंने उनसे यह भी कहा कि भगवान् राम में केवल ये दो पक्ष ही दिखे ऐसी बात नहीं है, वे तो ईश्वर हैं अतः उनमें अनंत गुण विद्यमान हैं। और जहाँ तक इन दोनों की बात है तो ये भगवान् राम में ही नहीं, हम लोगों में भी विद्यमान हैं। हम सब भी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। पर हमारे और भगवान् राम के कृपालु और मर्यादापुरुषोत्तम होने में एक बहुत बड़ा अन्तर है। भगवान् राम दूसरों के लिये कृपालु हैं और अपने लिये मर्यादापुरुषोत्तम हैं। हमारे सामने जब अपनी भूलों की बात आती है तो हम यही कहते हैं कि यह तो मानव स्वभाव है ऐसा तो होता ही रहता है। पर दूसरों के दोषों पर विचार करते समय हम बड़े न्यायप्रिय और कठोर बन जाते हैं और कृपा की बात तो दूर रही हम उस समय कठिन से कठिन दण्ड देने की बात तो कहते हैं। वस्तुतः हम अपने इन दोनों गुणों का दुरुपयोग ही करते हैं।

भगवान् में इन दोनों गुणों को देखकर यदि हम इनके द्वारा अपने जीवन में सुधार करें तब तो इसे उपयोगी माना जायेगा। यह जानने के बाद कि भगवान् बड़े कृपालु हैं और वे भक्तों के सब अपराधों को क्षमा कर देते हैं। यदि हमारे भीतर ईश्वर के प्रति समर्पण की, भक्ति की भावना का उदय हो तब तो यह बहुत अच्छी बात हुई। पर यदि व्यक्ति इससे प्रभावित होकर उन्मुक्त हो जाय और मनमाना अपराध करने लगे यह सोचकर कि प्रभु परम कृपालु हैं इसलिए क्षमा तो कर ही देंगे तो यह धारणा न तो ठीक और न ही कल्याणकारी है।

काम, क्रोध और लोभ की शास्त्रों में निन्दा की गयी है। संत महात्मा और विद्वानगण अपने उपदेशों और प्रवचनों में इन पर नियंत्रित करने की बात बार-बार दुहराते हैं, पर इतना होते हुए भी हम देखते हैं कि बिरले व्यक्ति ही ऐसे होते होंगे जो इन बुराइयों पर विजय प्राप्त कर पाते हैं।

कर्म और उसके फल के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त हमारे सामने आता है कि व्यक्ति को इस जन्म में किये गये कर्मों का फल तो मिलता ही है पर पूर्व-पूर्व जन्मों के कर्मफल भी उसे प्राप्त होते हैं। कर्मफल के सिद्धान्त से जुड़ा एक सूत्र मानस में भी आता है जिसमें कहा गया है कि-

कर्म प्रधान विस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा।। २/२१८/४

ईश्वर ने इस संसार का जब निर्माण किया तो कर्म की रचना कर दी। व्यक्ति स्वयं अपने कर्मों का फल भोग रहा है, ईश्वर उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता। यह कर्म सिद्धान्त तर्क संगत प्रतीत होता है। पर गहराई से देखने पर मनुष्य जीवन में प्रारब्ध कर्म भोग का यह गणित अत्यन्त जटिल प्रतीत होता है और इसे पढ़ने वाला आतंकित हुए बिना नहीं रह सकता।

मान लीजिये इस जन्म में हम सावधान भी रहें कि हमसे कोई भूल न होने पाये पर यदि हम अनेकानेक जन्मों से जुड़े हुए हैं और वह पुराना खाता अब भी चल रहा है। तब तो फिर बहुत बड़ा संकट है। मान लजिये कोई व्यक्ति दस पाप करे और पन्द्रह पुण्य करे, फिर यह गणित करे कि चलो दस पाप से दस पुण्य कट जाने पर कम से कम पाँच शेष पुण्यों का आनन्द तो मिल ही जायगा, पर कर्मसिद्धान्त का कहना है कि ऐसा नहीं हो सकता, पाप-पुण्य दोनों का ही फल अलग-अलग भोगना पड़ेगा। इस प्रकार यह खाता और गणित दोनों बड़े दीर्घकाल तक चलनें वाले हैं। ये बहुत कुछ उसी तरह के हैं जैसे पुराने समय में जब जमीदारी की प्रथा थी तो लोग साहूकार से पैसा उधार लेते थे और पीढ़ी दर पीढ़ी चुकाते रहने पर भी वह ऋण समाप्त होने को नहीं आता था क्योंकि उस ऋण पर लगने वाला ब्याज बढ़ता

ही जाता था। इसलिए रामायण में कर्मसिद्धान्त के बारे में एक बात और कही गयी कि-

कठिन करम फल जान बिधाता।

कर्मफल का गणित तो बिधाता ही जान सकते हैं, मनुष्य के लिये तो उसकी कल्पना ही बड़ी दुखदायी है।

हम इसे भौतिक जगत् में इस रूप में देख सकते हैं कि एक ओर तो जिस व्यक्ति के साथ अन्याय या कोई अपराध होता है तो वह न्यायालय में जाता है, उस न्यायालय में संतोष न होने पर वह उससे ऊपर के न्यायालय में जाता है फिर भी उसे संतुष्टि न हो तो क्रमशः वह सर्वोच्च न्यायालय तक जा सकता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय में भी यदि किसी अपराधी को मृत्युदण्ड की सजा सुना दी जाती है, तो वह अपराधी व्यक्ति भी अंत में दया की प्रार्थना लेकर राष्ट्रपति के पास जाता है और राष्ट्रपति चाहे तो उसकी सजा में परिवर्तन भी कर सकता है। इसका अर्थ यही है कि संसार में भी व्यक्ति न्यायालय के बाद अंत में कृपा प्राप्ति का ही प्रयास करता है।

संसार में कोई व्यक्ति यदि यह समझता है कि मैं सतत सावधान रहूँगा और कोई पाप अथवा अपराध नहीं करूँगा तो उसे बधाई। इससे बढ़िया बात और क्या होगी? पर क्या ऐसा कर पाना संभव है। मनुष्य के सामने कैसी-कैसी परिस्थितियाँ आती हैं? कैसे-कैसे कारण और समय आते हैं कि उसके बिना चाहे भी उससे पाप और अपराध हो ही जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमे दो प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं, एक तो वे हैं जिनको पाप करने पर गर्व का अनुभव होता है। वे अपने द्वारा किये गये उल्टे-सीधे अथवा उचित-अनुचित सभी कर्मों को ठीक ही मानते हैं। वे अपने किसी भी कर्म को कभी पाप नहीं मानते। स्वाभाविक रूप से ऐसे व्यक्तियों को कृपा की आवश्यकता नहीं होती। दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं जिनको लगता है कि हम अपने पुरुषार्थ से, प्रयत्न से पाप और दुर्गुणों को कभी नहीं हरा सकते। इसलिए वे अपने जीवन में कृपा की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। ऐसे अनेक पात्रों का वर्णन गोस्वामीजी मानस में करते हैं।

महाराज दशरथ पूर्व जन्म में मनु थे। मनु के रूप में उन्होंने भगवान् को पाने के लिये घोर तपस्या की, उपवास किया, व्रत, जप आदि अनेक साधनाएँ की। भगवान् प्रकट हुए और वरदान दिया कि तुम्हारे इच्छा के अनुरूप मैं तुम्हारे यहाँ पुत्र के रूप में जन्म लूँगा। वही मनु अगले जन्म में दशरथ बने। दशरथ बनने के बाद जब उन्होंने यज्ञ किया तब उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई। इस विस्तारपूर्वक किये गये वर्णन से तो यही लगता है कि व्यक्ति को शास्त्रों में परम्परागत ढंग से विधि-निषेध सहित वर्णित कर्म और अन्य साधन एवं उपायों को जीवन में अपनाना चाहिये। अब जिनकी आस्था कृपा पर इतनी अधिक है कि वे इन सबकी आवश्यकता नहीं समझते उनकी बात अलग है। अन्यथा कर्म की महत्ता का उल्लेख बार-बार हमें प्राप्त होता है। महाराज दशरथ के प्रसंग में भी यही बात स्पष्ट रूप से सामने आती है।

महाराज दशरथ को पुत्र न होने से दुःख की अनुभूति होती है। वे गुरु वशिष्ठ के पास जाते हैं और उनसे यह निवेदन करते हैं कि गुरुदेव मेरे कोई पुत्र नहीं है। वशिष्ठ जी उनसे कहते हैं कि -

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।

राजन्! धैर्य धारण करो। तुम्हें एक नहीं, चार पुत्र प्राप्त होंगे। पर तुम यह न मान लेना कि मैंने आशीर्वाद दे दिया इसलिए तुम्हें पुत्र प्राप्त हो जायेंगे। इसके लिये तुम्हें यज्ञ करना होगा। मानो यही साधना का, कर्म का पक्ष है। व्यक्ति से जितना हो सके अपनी पूरी सामर्थ्य से साधना करनी चाहिये, यज्ञ और तपस्या करनी चाहिये। महाराज दशरथ ने इसी का जीवन में पालन किया और इस पद्धति से वे आगे चलकर, एक महान् सौभाग्य-लाभ करने में सफल हुए। फिर इसका एक दूसरा पक्ष भी सामने आता है। महर्षि विश्वामित्र आते हैं और भगवान् राम तथा श्री लक्ष्मण को अपने साथ ले जाते हैं। हम देखते हैं कि जिस ईश्वर को महाराज दशरथ ने कठिन साधना से प्राप्त किया, विश्वामित्रजी ने उन्हें सहजता से प्राप्त कर लिया।

महाराज दशरथ ने यज्ञ किया और वे सफल हो गये। विश्वामित्रजी भी यज्ञ करते हैं पर उसे वे पूरा नहीं कर पाते। राक्षसगण

उस यज्ञ को पूरा नहीं होने देते। इसका संकेत यही है कि व्यक्ति कितनी भी ऊँची स्थिति पर पहुँचा हुआ क्यों न हो और कितने भी श्रेष्ठ कर्म और यज्ञ में प्रवृत्त क्यों न हो, पर मारीच, सुबाहु और ताड़का उसका पीछा नहीं छोड़ते। इसकी व्याख्या तो विस्तार से यहाँ संभव नहीं, पर संकेत यही है कि जीवन में ये तीनों समस्या के रूप में बने ही रहते हैं। सांसारिक व्यक्ति की बात ही क्या, महर्षि विश्वामित्र जैसे महापुरुष के जीवन में भी ये तीनों विद्यमान दिखायी देते हैं।

विश्वामित्र के समान पुरुषार्थी व्यक्ति विश्व-इतिहास में अत्यन्त दुर्लभ है। उनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। उस समय प्रचलित मान्यता के अनुसार यदि वे जीवनभर सत्कर्मों का सम्पादन करते तो अगले जन्म में ही वे ब्राह्मण बन पाते। पर आप सब जानते ही हैं कि उन्होंने अपनी कठिन तपस्या और साधना के द्वारा उसी जन्म में ही ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त कर लिया। ऐसा विलक्षण पुरुषार्थ विश्वामित्रजी में था। उनके जीवन से जुड़े बड़े-बड़े उत्कृष्ट कोटि के चमत्कारों का भी वर्णन हमें पढ़ने को मिलता है। पर ऐसा महान् ब्रह्मर्षि भी अपने जीवन में एक दिन एक कमी का अनुभव करते हैं।

गोस्वामीजी से किसी ने पूछ दिया - महाराज! बहुत से व्यक्ति भगवान् की भक्ति नहीं करते और भगवान् राम का आश्रय न लेकर वे संसारी व्यक्तियों का ही सहारा लिये हुए दिखायी देते हैं। तो आपको क्या लगता है कि उनके जीवन में निश्चिन्तता की स्थिति नहीं आ सकती? गोस्वामीजी ने कहा - भाई! मैं क्या कहूँ? मैं तो यही समझता हूँ कि जिसे जीवन में यदि किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं हो रहा है, तो उसे भगवान् राम के समान कोई साहब मिल गया होगा-

भरोसो आइहैं उर ताके, जो कहुँ लह्यो राम सों साहिब।

गोस्वामीजी कुछ दूसरे प्रकार के व्यक्तियों के बारे में बताते हुए कहते हैं कि कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो-

कै अपनो बल जाके,

अपने आप को बड़ा पुरुषार्थी समझते हैं और सोचते हैं कि हम अपने बल से ही सब कुछ कर लेंगे, हमें किसी प्रकार के सहारे

की आवश्यकता नहीं है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो बेखबर दिखायी देते हैं। पर उनकी यह स्थिति एक उन्मत्त शराबी की तरह ही होती है जिसे सुरापान के बाद अपनी वास्तविकता का भान नहीं रहता है-

कै कलिकाल कठिन नहीं सूझत मोह मार मद छाके।

ऐसे व्यक्ति मोह, अभिमान आदि की शराब पीकर अपनी सुध-बुध खो चुके होते हैं। इस संदर्भ में एक प्रसिद्ध गाथा आती है जिसे आप लोगों ने सुनी भी होगी।

एक व्यक्ति शराब पीकर मत्त चला जा रहा था। सामने से उस देश का राजा हाथी पर सवार होकर, सेवक-सैनिकों के साथ, आ रहा था। शराबी ने हाथीवाले को रोक लिया और कहने लगा - अरे हाथीवाले! बोल तू हाथी कितने में बेचेगा? सुनकर राजा के सैनिक उसे मारने के लिये दौड़े, क्योंकि उन्हें लगा कि यह तो हमारे राजा का अपमान कर रहा है। पर राजा ने उन्हें रोकते हुए कहा- इसे मारो मत! बस, जाकर देख आओ कि इसका घर कहाँ पर है। दूसरे दिन सभा में बैठने के बाद राजा ने आज्ञा दी कि उस व्यक्ति को बुला लाओ जो कल रात हाथी खरीदने की बात कर रहा था। वह व्यक्ति सामने लाया गया। तब तक उसका नशा उतर गया था। राजा ने मुस्कराते हुए उससे पूछा- तुम रात में हाथी खरीदने की बात कर रहे थे, अब सौदा हो जाय! बोलो, हाथी कितने में लोगे? उस व्यक्ति ने हाथ जोड़ते हुए कहा - महाराज! क्षमा कीजिये, हाथी खरीदने वाला तो रात में ही चला गया। मैं तो एक गरीब आदमी हूँ, मुझमें यह साहस कहाँ कि मैं हाथी खरीद सकूँ? गोस्वामीजी भी यही कहते हैं कि कई लोग अभिमान के नशे में इतने मत्त होते हैं कि यह झूठा दावा करते रहते हैं कि हममें कोई विकार है ही नहीं, हम सब दोषों से ऊपर हैं।

इसका संकेत यही है कि विश्वामित्र जैसे त्यागी, तपस्वी और पुरुषार्थी महात्मा बार-बार यज्ञ करते हैं, पर वह अधूरा रह जाता है, वे सफल नहीं हो पाते। हम-आप भी अच्छा कार्य करने का संकल्प लेते हैं, पर वह पूरा नहीं हो पाता। यही वे अवसर होते हैं जो हमें आत्मचिंतन की प्रेरणा दे सकते हैं- कहीं कोई कमी तो नहीं रह गयी?

गोस्वामीजी कहते हैं कि अंत में विश्वामित्रजी को भी सोचना पड़ा, वे चिन्ताग्रस्त हो गये। गोस्वामीजी विश्वामित्रजी कौन हैं, यह बताते हुए कहते हैं कि -

पुरुष सिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।१/२०८

विश्वामित्रजी का भय निवारण करने के लिये जाते हुए दोनों भाई ऐसे लग रहे हैं कि मानो दो सिंह ही चले जा रहे हों। फिर गोस्वामीजी उस समय भगवान् राम की क्या विशेषता है, इसका वर्णन करते हुए कहते हैं -

कृपा सिंधु रघुबीर,

भगवान् राम तो कृपासिंधु हैं। मानो गोस्वामीजी संकेत करना चाहते हैं कि साधना और पुरुषार्थ का पर्व पूरा हो गया और अब कृपा के प्राकट्य की वेला है। कृपा का यह पर्व, मार्ग में ही, उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है जब ताड़का सामने आती है।

ताड़का और उसके दोनों बेटे ही मुनियों के यज्ञ को नष्ट करनेवालों में प्रमुख थे। भगवान् राम ने ताड़का को सामने आते हुए देखा तो विश्वामित्रजी से पूछा - गुरुदेव यह कौन है? विश्वामित्रजी ने कहा - राम! यह ताड़का है, जो यज्ञ में बाधा उत्पन्न करती है, तुम इसका वध कर दो! भगवान् राम ने एक ही बाण से ताड़का का वध कर दिया। इसे देखकर तो यही लगता है कि भगवान् राम एक न्यायाधीश की तरह अपराध करने वाले को कठोर दण्ड देने में यत्किंचित् भी संकोच नहीं करते! यहाँ तक कि वे दण्ड देने में अपराधी के नारी या पुरुष होने के भेद का भी स्मरण नहीं रखते! ऐसा लगता है कि यहाँ प्रभु की दृष्टि कुछ इस तरह है कि जो अपराध करेगा वह तो दण्ड का भागी होगा ही, चाहे स्त्री हो या पुरुष हो! यह तो एक कठोर न्यायाधीश का स्वरूप है।

संसार के न्यायाधीश अपराधी को उसके दण्ड की सजा जब फाँसी के रूप में सुनाते हैं, तो उस व्यक्ति के प्राण ले लिये जाते हैं और भगवान् राम भी दण्ड देते हुए ताड़का के प्राण ले लेते हैं। तो फिर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से हमारे सामने आता है कि क्या सांसारिक न्याय-दण्ड पद्धति और भगवान् राम की न्याय एवं दण्ड की

पद्धति दोनों एक जैसी ही है या उनमें भिन्नता भी है? गोस्वामीजी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् राम के न्याय और दण्ड का वह पक्ष प्रस्तुत करते हैं जो सचमुच ही बड़ा विलक्षण है। इस प्रसंग में गोस्वामीजी कहते हैं कि-

चले जात मुनि दीन्हि देखाई।
सुनि ताड़का क्रोध करि धाई।।
एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। १/२०८/५,६

प्रभु दण्ड तो देते हैं पर उसमें विलक्षणता यह है कि उस दण्ड में प्रभु की कृपा भी साथ-साथ दिखायी देती है।

संसार में कृपा की बात आने पर उसके कारण के रूप में उससे जुड़ी हुई दीनता भी दिखायी देती है। इस प्रकार कृपा और दीनता का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। कृपा जब होगी तो दीन पर ही होगी। हमें दीन कहने पर हमारे सामने बहुधा धन-संपत्ति का न होना ही नहीं है। कुछ लोग सब कुछ होते हुए भी, क्योंकि वे अत्यन्त विनम्र और निरहंकारी होते हैं अतः अपने आपको असमर्थ और दीन मानते हैं। तो दीन पर कृपा करने की बात ठीक है। पर गोस्वामीजी ताड़का के प्रसंग में कहते हैं कि भगवान् राम ने ताड़का को दण्ड तो दिया-

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।

पर -

दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।। १/२०८/६

उसे दीन समझकर अपना पद प्रदान कर दिया। पूछा जा सकता है कि ताड़का दीन कैसे है?

यहाँ प्रभु की कृपा और दण्ड का एक विलक्षण रूप हमारे सामने आता है। ताड़का में दीनता का भाव जिसे हम नहीं देख पाते, प्रभु देख लेते हैं। प्रभु जानते हैं कि ताड़का के द्वारा जो पाप और अपराध होता हुआ दिखायी देता है, उसे वह जानबूझकर नहीं करती है।

कथा आती है कि ताड़का सुकेतु नाम के राजा की पुत्री थी। राजा सुकेतु बेटा चाहते थे। उन्होंने यज्ञादि अनेक साधन किये। इससे उन्हें संतान की प्राप्ति तो हुई पर बेटा नहीं बेटी के रूप में। तब उन्होंने निश्चय किया कि वे पुत्री को ही पुत्र की तरह रखेंगे। वह पुत्री ताड़का

पुत्र की भाँति पलने-बढ़ने लगी। उसी के अनुरूप उसका स्वभाव भी विकसित होने लगा। उसे दूसरों को सताने में, कष्ट देने में आनंद आने लगा। उसकी इस प्रवृत्ति से एक ऋषि एक बार क्रोधित हो गये और उसे शाप दे दिया- जा! तू राक्षसी हो जा। ताड़का राक्षसी बन गयी। प्रभु ने सोचा कि वह बेचारी तो दूसरों की इच्छा और परिस्थिति विशेष के कारण ही राक्षसी बन गयी, इसलिए वह तो दीन ही है। अतः गोस्वामीजी जहाँ एक ओर ताड़का के वध के संबंध में लिखते हैं कि-

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।

वहीं अगले वाक्य में तुरन्त यह भी लिखते हैं कि-

दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।। १/२०८/६

इस प्रकार जहाँ पहले वाक्य में न्याय के अनुसार दण्ड की बात कहते हैं वहीं दूसरे वाक्य में भगवान् की कृपा का स्वरूप भी प्रकट कर देते हैं।

प्रभु यदि कर्मसिद्धान्त के अनुसार निर्णय करते तो वे सोचते कि इसने तो असंख्य मुनियों का अहित किया है, अनेक यज्ञ नष्ट किये हैं और उन्हें मार-मार कर खाती रही है, अतः इसे तो लंबी अवधि तक नरकवास मिलना चाहिये, जहाँ वह अपने समस्त पापों की सजा भोग सके। पर प्रभु ने उसे अपने धाम में भेज दिया क्योंकि प्रभु तो परम कृपालु हैं, कृपासिंधु हैं।

भगवान् से कोई पूछता है कि आप इतनी सरलता से अपने धाम में क्यों भेज देते हैं? यह न्याय-व्यवस्था के विरुद्ध नहीं है क्या? भगवान् कहते हैं - भाई! न्यायालय में भी तो आजीवन कारावास की सजा दी जाती है जिससे अपराधी जीवनभर कारागार में ही रहता है। मैं भी इसलिए अपने धाम में भेजता हूँ, क्योंकि मेरे धाम की विशेषता भी यही है कि वहाँ जानेवाला व्यक्ति फिर लौटकर आ ही नहीं सकता। यह भी आजीवन कारावास हो गया या नहीं? अब इस कारागार के आनंद के क्या कहने? वस्तुतः यह तो प्रभु का कृपागार है।

किसी ने पूछा- महाराज! उस राक्षसी ने इतने अपराध किये और आपने उसे अपना धाम दे दिया यह कैसी लेन-देन है? आपको उससे ऐसा क्या मिल गया कि बदले में आपने उसे अपना धाम दे डाला?

प्रभु ने कहा- संसार में सर्वश्रेष्ठ और सबसे प्रिय वस्तु प्राण ही है। जब ताड़का ने अपने प्राण ही मुझे दे दिये तो मैंने भी अपने पास की सबसे अच्छी वस्तु उसे दे दी। उसने अपने प्राण दिये और मैंने अपना पद दे दिया, इस रूप में लेन-देन तो बराबरी की रही, इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। अब ऐसी व्याख्या तो कर्मसिद्धान्त के अंतर्गत कहीं मिलेगी नहीं, क्योंकि यह तो प्रभु का कृपापर्व है। प्रभु का इसके पीछे यही संकेत है कि न्याय का अंतिम उद्देश्य भी व्यक्ति का कल्याण है और कृपा के द्वारा भी जब वही उद्देश्य पूरा हो जाय तो यह भी न्याय ही तो हुआ!

परशुरामजी की दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। वे समझते हैं कि संसार में सबसे बुरा शब्द कृपा ही है। उनको लगता है कि इसी कृपा ने ही लोगों को मनमानी करने की छूट दे दी है। इसलिए इस कृपा को मैं अपने पास कभी नहीं आने दूँगा। परशुरामजी मानते हैं कि लोगों को दण्ड के द्वारा ही ठीक रखा जा सकता है। वे एक कठोर न्यायाधीश के रूप में सामने आते हैं। उनकी दृष्टि में अपराध करनेवाला व्यक्ति तो दण्ड का पात्र है ही, पर यदि दूसरा कोई व्यक्ति चुपचाप अपराध होते हुए देखता रहे, तो वह भी अपराधी ही है, अतः उसका भी सिर काट देना चाहिये। वे राम तो थे पर उनका परशु दण्ड देने के लिये सदैव तैयार रहता था, इसलिए वह भी उनके नाम के साथ जुड़ गया और वे परशुराम हो गये। लोग उनसे सदैव भयभीत रहते थे। भगवान् राम भी यद्यपि अपने पास धनुष रखते हैं, पर उनका नाम धनुष राम नहीं पड़ा।

जनकपुर की सभा में कृपा के बारे में परशुरामजी का मनोभाव स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है। वे लक्ष्मणजी को मारने की बात सोचकर भी जब मार नहीं पाते, तो वे बड़े दुखी हो जाते हैं और कहते हैं - आज मैं अपने आपको बदला हुआ पा रहा हूँ। कहीं मेरे हृदय में कृपा तो नहीं आ गयी? -

मोरे हृदयँ कृपा कसि काऊ। १/२७६/२

मैंने आज तक अपने जीवन में कभी कृपा नहीं की, आज यह मुझे क्या हो गया है? लक्ष्मणजी ने उनकी यह बात सुन ली। वे भी

उत्तर देने में कब चूकनेवाले थे? तुरंत कहने लगे-

जौं पै कृपाँ जरिहि मुनि गाता।
क्रोध भएँ तनु राख बिधाता।। १/२७६/५

मुनिवर! जब आप कृपा में ही क्रोध से काँप रहे हैं, तब आपके क्रोध में कितनी ज्वाला होगी महाराज? मानो, लक्ष्मणजी के इस व्यंग्य में भी एक बड़ा सुंदर संकेत है। यही भगवान् राम और परशुराम में अंतर है। परशुरामजी दण्ड देते हैं। भगवान् राम भी मर्यादापुरुषोत्तम हैं और इस रूप में न्याय करते हुए वे भी दण्ड देते हैं। पर हम देखते हैं कि भगवान् राम का दण्ड भी कृपा बन जाता है और परशुरामजी की कृपा भी ज्वाला उत्पन्न कर देती है, दग्ध करने वाली बन जाती है। भगवान् राम का जन्म यद्यपि सूर्यवंश में होता है पर उनमें नाममात्र भी सूर्य की दाहकता दिखायी नहीं देती, अपितु उनके नाम के साथ तो चंद्र जुड़ा हुआ दिखायी देता है -

रामचन्द्र मुखचंद छबि।

इसका अभिप्राय है कि भगवान् राम में सूर्य के समान प्रकाश तो है पर उसकी दाहकता के स्थान पर चन्द्रमा के समान शीतलता विद्यमान है। दोनों रामों में परशुरामजी कृपा को सर्वथा त्याज्य मानते हैं और भगवान् राम मानते हैं कि संसार के जीवों का कार्य तो बिना कृपा के चल ही नहीं सकता। इसलिए मानस में भगवान् राम के चरित्र में पग-पग पर उनकी कृपा के दर्शन होते हैं।

वर्णन आता है कि भगवान् राम पहली बार मारीच का वध न करके उसे बिना फल के बाण से दूर फेंक देते हैं। भगवान् के इस कार्य के पीछे भी एक विलक्षणता है और इसका आनंद, मारीच के मनोभाव के रूप में उस समय प्रकट होता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि स्वर्णमृग के रूप में मारीच जब सीताजी की ओर चलने लगा तो वह इतना अधिक प्रसन्न था कि उसे अपनी यह प्रसन्नता रावण से छिपानी पड़ी-

मन अति हरष जनाव न तेही। ३/२५/८

मारीच सोचता है कि मुझे प्रसन्न देखकर रावण को मेरे ऊपर संदेह हो जायगा कि कहीं यह उनसे जाकर मिल तो नहीं जायेगा? उनके

पक्ष में तो नहीं चला जायेगा? और तब संभव है कि वह मुझे यहीं मार डाले, अतः उसने अपनी प्रसन्नता रावण पर प्रकट नहीं होने दी। मारीच प्रभु के पास जाने के लिये परम आतुर है। वह इस बात की कल्पना मात्र से ही आनंद से भर उठता है कि मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है कि मैं अपने परम स्नेही भगवान् राम के आज दर्शन कर सकूँगा। अब मारीच से कोई पूछ दे- तुम बड़े प्रसन्न दिख रहे हो। क्या तुम्हें लगता है कि जब तुम उनका दर्शन करोगे तो वे तुम्हारा स्वागत-सत्कार करेंगे? क्या तुम इसीलिए प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हो?

नहीं, नहीं मैं जानता हूँ कि वे मेरा स्वागत नहीं करेंगे, अपितु आज तो प्रभु बाण से मेरा वध करेंगे। मारीच मन ही मन उत्तर देता है। बात बड़ी विचित्र-सी लगती है। व्यक्ति यह सोचकर तो प्रसन्न हो सकता है कि स्वागत होगा, माला पहनायी जायेगी, पर आश्चर्य! मारीच यह सोचकर प्रसन्न हो रहा है कि प्रभु अपने बाण से मेरा वध करेंगे।

प्रभु से भेंट की कल्पना से प्रसन्न होनेवाले कई पात्र मानस में हैं। विभीषणजी भी प्रभु के पास चलने लगे तो बड़े प्रसन्न थे। पर वे यही सोचकर प्रसन्न थे कि प्रभु मुझे अपने हृदय से लगा लेंगे और मैं उनकी कृपा पाकर धन्य हो जाऊँगा। पर मारीच तो अनोखा निकला। कहता है कि मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है कि प्रभु मुझ पर बाण चलायेंगे। अब इसके पीछे मारीच की जो मधुर और दिव्य भावना है उसे हम समझ लें। मान लीजिये! कभी आपको किसी फल विशेष का एक छोटा सा भाग चखने को मिला हो और उस छोटे से हिस्से को ही खाकर आपको बहुत अधिक आनंद आ गया हो। अब, यदि कोई आपसे यह कह दे कि वही फल पूरा का पूरा ही खाने को मिलेगा, तो क्या आपका आनंद अनेकों गुना नहीं बढ़ जायगा? ठीक यही मनःस्थिति मारीच की है।

भगवान् राम का बाण मारनेवाला है, ऐसा लोगों को लगता है, पर भगवान् राम के बाण के फल का स्वाद तो सचमुच मारीच ही जानता है। पहली बार भगवान् राम ने जिस बाण से मारीच पर प्रहार किया वह बिना फल का था -

बिनु फर बान राम तेहि मारा।

सत जोजन गा सागर पारा।। १/२०६/४

और इस बिना फल के बाण प्रहार का परिणाम यह हुआ कि सर्वत्र उसको श्री राम ही दिखने लगे। वह कहता है कि-

जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई। ३/२४/७

मारीच का तात्पर्य है कि जो लोग बाण की मिठास नहीं जानते वे घबराते हैं, पर मैं तो समझ गया हूँ कि प्रभु का बाण तो बड़ा दिव्य है। जब बिना फल का बाण लगा तब तो वे सर्वत्र दिखने लगे थे अब, जब फल-सहित पूरा बाण लगेगा तब तो वह उनसे मिला ही देगा। अब तो उनके और मेरे बीच की दूरी पूरी तरह मिट जायगी। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि प्रभु की कठोरता और न्याय में भी उनकी कृपा एवं करुणा विद्यमान रहती है। विश्वामित्रजी के साथ प्रभु की इस यात्रा में कृपा का एक और भी दृष्टान्त हमारे सामने आता है।

अहल्या महर्षि गौतम की पत्नी हैं। पर उनके पति के शाप के कारण उन्हें पत्थर बन जाना पड़ा। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में मन में उठता है कि ऐसा क्या अपराध हो गया जिससे एक ऋषि पत्नी को प्रस्तर बन जाना पड़ा? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि चाहे कितना भी उच्चकोटि का धर्मात्मा क्यों न हो, उससे भी जाने-अनजाने कोई न कोई भूल हो ही जाती है। अहल्याजी ने महर्षि गौतम की जीवन भर सब कुछ त्याग कर सेवा की पर एक दिन जब गौतम ऋषि प्रातःकाल की स्नान-वेला के भ्रम में असमय ही स्नानार्थ नदी की ओर चले गये तो इसी बीच इन्द्र गौतम का छद्म रूप बनाकर अहल्या के पास आ गया। अहल्या ने उसे गौतम समझकर उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और इस प्रकार इन्द्र ने छलपूर्वक, अहल्या को पा लिया। उसी समय गौतमजी भी नदी से लौटकर वापस आ गये और क्रोध में आकर उन्होंने इन्द्र को शाप दे दिया, साथ ही यह कहते हुए कि तुममे भी कोई कमी अवश्य रही होगी, अन्यथा तुम बेष बदले रहने पर भी इन्द्र को पहचान सकती थी, तुम्हारी दृष्टि यदि पवित्र होती तो यह सब संभव नहीं था, उन्होंने अहल्या को भी पत्थर बन जाने का शाप दे दिया। यही है कठोर न्याय! गौतम ऋषि अहल्याजी के द्वारा की गयी अपनी सारी सेवा भूल गये और अनजाने में एक क्षण के लिये होने वाली भूल से इतने

अधिक रुष्ट हो गये कि उन्हें मानवी से पाषाणी बना डाला। उनकी दृष्टि में यही न्याय था। आपने न्याय-व्यवस्था के उस प्रतीकात्मक चित्र को अवश्य देखा होगा कि जिसमें एक (न्याय की) तुला होती है और उसे हाथ उठानेवाली मानव-आकृति की आँखों पर एक पट्टी बँधी होती है। महर्षि गौतम ने भी इसी दृष्टि से अहल्या को न्याय की तुला पर तौलकर दण्ड दे दिया। अहल्या ने शाप स्वीकार कर लिया और महर्षि से मुक्ति का उपाय पूछा। मुनि यद्यपि न्याय में कठोर थे पर उनमें विशेषताएँ भी थीं। उन्होंने कहा कि तुमने अपराध जानबूझकर किया है या अनजाने में किया है, मैं तो न्याय करते हुए दण्ड ही दे सकता हूँ, क्योंकि अग्नि का स्पर्श जाने-अनजाने जैसे भी किया जाय, वह तो जलायेगी ही। पर जिनमें कृपा करने की सामर्थ्य है, ऐसे भगवान् राम बाद में यहाँ आयेंगे और जब उनके चरणों का स्पर्श तुम्हें मिलेगा, तो उसी समय तुम्हारी जड़ता चेतनता में बदल जायेगी और तुम पुनः अपना स्वरूप प्राप्त कर लोगी। इस प्रकार कठोर दण्ड व्यवस्था ने अहल्या को कठोर पत्थर बना दिया, पर अंत में प्रभु कृपा से वह धन्य हो गयी।

विश्वामित्रजी के साथ जाते हुए मार्ग में प्रभु की दृष्टि चली गयी एक आश्रम की ओर! प्रभु ने देखा कि उस आश्रम में मनुष्य की बात क्या पशु, पक्षी तक नहीं हैं। वहाँ तो बस, नारी-आकृति की एक शिला ही पड़ी हुई है-

आश्रम एक दीख मग माहीं।
खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं।। १/२०६/११

भगवान् राम ने विश्वामित्रजी से पूछा- गुरुदेव! यह कौन हैं?

पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी।

संत विश्वामित्र परम उदार हैं। वे कह सकते थे कि यह तो पापिनी है, पातिव्रत धर्म से च्युत है, परित्यक्ता है। पर उन्होंने अहल्या की कथा इस रूप में न कहकर बड़े सुंदर और विशेष ढंग से कही-

सकल कथा मुनि कहा बिसेषी। १/२०६/१२

वे कहते हैं कि-

गौतम नारि श्राप बस उपल देह,

अहल्या ने भूल की हो या न की हो पर उसे शाप मिला, जिससे

उसे पत्थर की देह मिल गयी। संत की विशेषता देखिये कि उन्होंने उस परित्यक्ता, शापिता पाषाणी में भी गुण निकाल दिया।

याद रखिये! साधना के लिये उत्साह चाहिये और कृपा के लिये धैर्य चाहिये। इसलिए जो उतावले हो जाते हैं, उन्हें कृपा की बात नहीं सोचनी चाहिये। यदि आप किसी अपने मित्र से मिलने को उतावले हों, तो समर्थ होने की स्थिति में आप अपने उस मित्र से मिलने के लिये स्वयं निकल सकते हैं। पर यदि आप चलने में असमर्थ हैं, चलकर जा नहीं सकते, तो ऐसी स्थिति में आपको धैर्य का आश्रय लेकर उनकी प्रतीक्षा करनी होगी और जब वे ही कृपा करके पधारेंगे तभी भेंट हो पायेगी। इस तरह असमर्थता में धैर्य का बड़ा महत्त्व है।

गोस्वामीजी का इस संदर्भ में एक बहुत भावपूर्ण पद विनयपत्रिका में प्राप्त होता है। गोस्वामीजी प्रभु से मिलना चाहते हैं पर उन्हें अपनी असमर्थता का भी ज्ञान था, इसलिए वे एक चौराहे पर बैठ गये। किसी ने उनसे पूछ दिया- तुम चौराहे पर क्यों बैठ गये भाई? उन्होंने कहा - मैं मार्ग देख रहा हूँ, किसका मार्ग देख रहे हो? गोस्वामीजी अपनी असमर्थता बताते हुए कहते हैं कि मेरे पावों में न तो चलने की शक्ति है और न ही मैं यह जानता हूँ कि प्रभु किस मार्ग से चलने पर प्राप्त होते हैं। सुनता हूँ कि वे अलग-अलग लोगों को अलग-अलग रास्तों पर मिले हैं। इसलिए मैं यह सोचकर इस चौराहे पर बैठ गया हूँ कि वे जिधर से भी आयेंगे, यहाँ पर तो मिल ही जायेंगे। वे प्रभु से यही कहते हैं-

नाथ कृपाही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति।

प्रभु! मैं दीन हूँ और दिन-रात आपकी कृपा का मार्ग देख रहा हूँ। फिर आगे गोस्वामीजी दूसरी पंक्ति में कहते हैं - प्रभु! मैं यह भी तो नहीं जानता कि आपकी कृपा मुझ पर कब होगी? इसलिए यहीं बैठकर प्रतीक्षा कर रहा हूँ-

होइ धौं केहि काल दीनदयालु! जानि न जाति।।

(वि.प.२११/१)

गोस्वामीजी एक और पद में भी यही बात दुहराते हुए कहते हैं कि मैं यह तो कह सकता हूँ कि जिसे स्वर्ग पाना हो उसे सौ अश्वमेध यज्ञ

करने चाहिये, पर आपकी प्रसन्नता किस गुण या आचरण से प्राप्त होती है यह नहीं जानता। बस! इसीलिए आपकी कृपा की बाट देखता रहता हूँ-

केहि आचरन भलौ मानैं प्रभु सो तौ न जानि पर्‍यो।
तुलसिदास रघुनाथ कृपा को जोवत पंथ खर्‍यो।।

(वि.प.२३६/७)

फिर एक और पद में वे कहते हैं - प्रभु!

जब कब निज करुना सुभावतें, द्रवहु तौ निस्तरिये।
तुलसिदास विस्वास आन नहिं कत पचि-पचि मरिये।।

(वि.प.१८६/६)

जब भी आप अपने दयालु स्वभाव से द्रवित होकर मुझ पर कृपा कर देंगे उस समय मेरा कल्याण हो जायेगा।

विश्वामित्रजी प्रभु से कहते हैं- अहल्या धर्म के मार्ग पर चली पर पत्थर बन गयी। वह तुम्हारे पास अयोध्या नहीं जा सकती, क्योंकि पत्थर में चलने की सामर्थ्य नहीं होती। पर राम! तुम इसका धैर्य तो देखो-

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।। १/२१०

यह कितने समय से सब कुछ सहते हुए पड़ी हुई है कि कभी तो प्रभु राम आयेंगे। इसकी इच्छा है कि तुम अपने चरण-कमल की धूलि इस पर डाल दो। इसलिए तुम अब विलंब मत करो और इस अभिशप्त नारी पर कृपा करो।

प्रभु मर्यादामय हैं। वे सोचते हैं कि ऋषि की पत्नी पर मैं अपने पाँव की धूलि कैसे डालूँ? यह तो उचित नहीं है। विश्वामित्र भगवान् राम का यह संकोच भाँप लेते हैं। उन्होंने कहा- राम! तुम यह मत सोचो कि मैं अपनी ओर से यह बात कह रहा हूँ। अपनी ओर से कहने पर मैं यह कह सकता था कि इसे कृपाभरी दृष्टि से देख लो अथवा इसके सिर पर हाथ रख दो। मैं जानता हूँ कि इससे भी अहल्या का कल्याण हो जाता, पर चरण-रज की यह प्रार्थना तो स्वयं अहल्या की है -

चरन कमल रज चाहति,

यद्यपि यह बोल नहीं रही है पर इसकी प्रार्थना मैं समझ रहा हूँ। यह चाहती है कि आप इस पर कृपा केवल अपने चरण से ही कीजिये, हाथ या दृष्टि के द्वारा नहीं। कोई पूछ सकता है - आँख या हाथ से क्यों नहीं? विश्वामित्रजी का अभिप्राय है कि मानो अहल्या यह कहना चाहती है- प्रभु! आँख से कृपा करने के लिये जब आप दृष्टि उठाकर मेरी ओर देख लेंगे, तो आपकी दृष्टि मेरे दोष और मेरे चरित्र की ओर चली जायेगी। तब हो सकता है कि यह सोचकर कि यह तो कृपा योग्य नहीं है, आप अपने नेत्र ही मूँद लें। यदि मैं हाथ से कृपा करने की प्रार्थना करूँगी, तो प्रभु आपके हाथ में धनुष-बाण देखकर मुझे यही डर लगता है कि कृपा के लिये बढ़ते आपके हाथ, कही न्याय का आश्रय लेकर मुझे दण्ड देने न लग जायँ! इसलिए प्रभु! न तो आप हाथ से कृपा करें और न ही नेत्रों से कृपा करें, आप तो बस अपने उन चरणों से कृपा करें जिनसे गंगा निकली है। बड़ी दिव्य भावना है अहल्या की! सचमुच, गंगा की कृपा तो सब पर समान रूप से होती है। आजतक उसने पापी-पुण्यात्मा, जाति-पाँति और ऊँच-नीच का कभी कोई भेद नहीं किया है। यह प्रभु के चरणों की विशेषता है।

भगवान् राम ने गुरुदेव की आज्ञा मानकर अपने चरण से उस पाषाणी का स्पर्श कर दिया। गोस्वामीजी कहते हैं कि-

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही।।

उस प्रस्तर में से अहल्या प्रकट हो गयी। इसका अभिप्राय है कि बुरे व्यक्तियों की बात तो जाने दीजिये! अच्छे से अच्छे व्यक्तियों से भी जीवन में भूलें हो जाती हैं और उनसे परित्राण तो ईश्वर की कृपा से ही होता है।

विश्वामित्रजी ने भगवान् राम को आज्ञा देते समय उनसे एक मीठा विनोद भी किया। उन्होंने कहा- राम! सतयुग में एक भक्त की परीक्षा हुई थी और इस त्रेतायुग में भगवान् की परीक्षा है। तुम्हें स्मरण होगा कि जिस समय हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से पूछा कि क्या इस खंभे में भी तुम्हारा ईश्वर है? तो प्रह्लाद ने हाँ कहकर प्रकट कर दिया।

अब तुम्हारी कृपा की परीक्षा है, देखना है कि अब तुम पत्थर से एक भक्त प्रकट कर सकते हो अथवा नहीं? यदि तुम ऐसा कर सके तब तो तुम्हारी कृपा भी सफल हो जायेगी, अन्यथा भक्त का प्रेम ही बाजी मार ले जायेगा और सफल माना जायेगा।

रामचरितमानस में यह बात बार-बार बतायी गयी है कि व्यक्ति का कल्याण बिना कृपा के नहीं हो सकता, चाहे वह कितना भी पुरुषार्थी क्यों न हो! व्यक्ति पुरुषार्थ करते-करते थक जाता है और जब उसे पुरुषार्थ की सीमा का बोध हो जाता है, तब उसे कृपा की आवश्यकता की अनुभूति होती है। मानस में सुग्रीव के प्रसंग में यह बात एक विलक्षण रूप में हमारे सामने आती है।

सुग्रीव से मित्रता करने के बाद भगवान् राम ने सुग्रीव से कहा कि मैं बालि को मारूँगा तो सुनकर सुग्रीव प्रसन्न हो गये। फिर भगवान् राम ने सुग्रीव से कहा - चलो! अब जाकर बालि को युद्ध के लिये ललकारो। सुग्रीव कह सकते थे - महाराज! जब आपने मारने की प्रतिज्ञा की है, तब आपको ही जाकर उसे चुनौती भी देनी चाहिये पर सुग्रीव चले गये। आपने विचार किया कि वे चले क्यों गये? सुग्रीव ने सोचा, बहुत अच्छा अवसर है! जीवनभर मैं बालि से हारता रहा, पर आज भगवान् राम रक्षा के लिये मेरे पीछे खड़े हुए हैं। अब यदि जाकर मैं लड़ता हूँ और जीत जाता हूँ तो इतिहास में यही लिखा जायेगा कि अंतिम लड़ाई तो सुग्रीव ने ही जीती। इसलिए सुग्रीव लड़ने के लिये चल पड़े। उनकी चुनौती सुनकर बालि बाहर निकल आया और उसने सुग्रीव पर मुक्के से प्रहार किया। सुग्रीव को यह वज्र की तरह लगा और वे भाग खड़े हुए -

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा।
मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।। ४/७/३

सुग्रीव बड़े भगोड़े थे। उन्हें भागते हुए देखकर लक्ष्मणजी ने हँसकर प्रभु से कहा- प्रभु! देखिये न, स्वभाव छूटता नहीं। आपने मित्र भी बना लिया, फिर भी इसका भागने का स्वभाव नहीं छूटा। प्रभु ने कहा लक्ष्मण! तुम्हारी बात ठीक है कि इसका स्वभाव भागने का है पर तुमने ध्यान दिया या नहीं, भागने-भागने में भी अंतर है। यह पहली

बार मायावी से डर कर भागा तो घर में छिपा। बाद में बालि के डर से भागा तो ऋष्यमूक पर्वत में छिपा, पर अब भागते-भागते अंत में मेरी ओर आ रहा है। क्या इस तरह तुम्हे उसके भागने की दिशा में कुछ अंतर नहीं दिखायी देता? सचमुच यदि कोई भागते-भागते ईश्वर की दिशा में आ जाय, तब तो उसका भगोड़ापन भी सार्थक हो जायेगा।

सुग्रीव पिट कर लौटे तो लगे उलाहना देने- महाराज! आपने तो कहा था कि आप बालि को मारेंगे। प्रभु ने कहा- मित्र! मैं तुम दोनों भाइयों में भेद नहीं कर पाया। तुम दोनों बिलकुल एक-जैसे ही लग रहे थे, अतः मैं पहचान नहीं पाया कि कौन बालि है और कौन सुग्रीव है। प्रभु ने दोनों में ही उस कर्तृत्व-अभिमान को देख लिया था। प्रभु ने सुग्रीव के शरीर का अपने हाथ से स्पर्श किया जिससे वह पीड़ामुक्त हो गया। फिर उससे बोले - सुग्रीव! तुम्हारी पीड़ा दूर हो गयी न! अब मैं तुम्हें अपना बल भी दे देता हूँ, जाओ! तुम एक बार फिर बालि को ललकारो और उससे युद्ध करो। मानो प्रभु यह देखना चाहते थे कि सुग्रीव में अब भी कोई कर्तृत्व-अभिमान शेष है या नहीं। वे फिर से लड़ने के लिये चल पड़े। यही जीव का स्वभाव है- कर्तृत्व-अभिमान (मैं कर्ता हूँ, करने वाला हूँ) उसे, बड़ा प्रिय है।

सुग्रीव लड़ते समय सोचने लगे - मुझे भी तो अपनी ओर से कुछ करना चाहिये, केवल भगवान् के बल से ही कैसे काम चलेगा? जीव यही सोचता है - हमें भी तो कुछ करना चाहिये। कुछ ईश्वर करे और कुछ हम करें। सफलता में व्यक्ति अपने कर्तापन को भी देखना चाहता है। यह दृष्टि ठीक है कि व्यक्ति को भी करना चाहिये पर क्या करना चाहिये यह चुनाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि सुग्रीव ने विचार किया कि मुझे अपनी ओर से क्या करना चाहिये और फिर -

बहु छल बल सुग्रीव करि,

उसने निर्णय लिया कि बल तो भगवान् ने दे दिया है, छल मैं अपनी ओर से मिला देता हूँ, जीत तो होनी ही है।

इस मिलाने (जोड़ने) की बात में मुझे जबलपुर का एक पुराना संस्मरण याद आता है। मेरे एक परिचित विद्यार्थी, जो कभी

पढ़ाई-लिखाई नहीं करते थे, एम.ए. की परीक्षा में पास हो गये। मुझे आश्चर्य हुआ तो मैंने पूछ दिया- अरे! कैसे पास हो गये भाई? उन्होंने कहा - मेरे पास परीक्षा में पास (सफल) होने का एक बहुत बढ़िया नुस्खा है। मेरे पूछने पर नुस्खा बताते हुए उन्होंने कहा - अकल धन नकल बराबर पास। अकल और नकल को जोड़कर उत्तीर्ण होने का यह सूत्र भले ही उनके काम आ गया हो, पर बालि के साथ युद्ध करते समय सुग्रीव, ईश्वर के बल में अपना छल मिलाने पर भी हारने लगे। भगवान् यह दृश्य देख रहे थे और वे दर्शक ही बने रहे। पर अंत में सुग्रीव को अपनी असमर्थता का भान हो गया और जब वे भीतर हृदय से भी हारने लगे तो भयभीत हो गये -

बहु छल बल सुग्रीव कर हियँ हारा भय मानि। ४/८

और सोचने लगे कि बड़ी भूल हो गयी, कहाँ लड़ने चला आया? हे प्रभु! अब आप ही कृपा करके मेरी रक्षा करें। बस! वह सीमा आ गयी, अपनी असमर्थता का बोध हो गया, तब -

मारा बालि राम तब हृदय माझ सर तानि।। ४/८

इसका तात्पर्य है कि जीव को अपनी असमर्थता की स्थिति में ही प्रभु कृपा की आवश्यकता होती है और तब उस कृपा का अनुभव भी होता है।

रामचरितमानस में यह वर्णन आता है कि आगे चलकर सुग्रीव ने बहुत बड़ा अपराध भी किया। राज्य सत्ता पाने के बाद वे विषय भोगों में इतना डूब गये कि भगवान् के इस कार्य को, कि सीताजी का पता लगाना है, बिलकुल भूल गये। बहुत समय बीत जाने पर भी जब सुग्रीव नहीं आये तो भगवान् राम ने कहा कि जिस बाण से मैंने बालि का वध किया है, उसी बाण से सुग्रीव का भी वध कर दूँगा। लक्ष्मणजी ने सुना तो बोले- महाराज! आप क्यों कष्ट करेंगे, इस काम को तो मैं अभी कर देता हूँ। भगवान् राम लक्ष्मणजी की बात सुनकर हँसने लगे और बोले- लक्ष्मण! उसे कहीं सचमुच न मार देना! तुम वहाँ जाओ और बस थोड़ा सा भय दिखाकर उसे मेरे पास ले आओ।

सुग्रीवजी आ गये और अपनी सफाई देते हुए जो बातें उनके मुँह से निकलीं उन्हें सुनकर प्रभु हँसने लगे। सुग्रीवजी ने कहा- महाराज!

विषय इतने प्रबल हैं कि इनके वश में देवता और मुनि तक आ जाते हैं, मैं तो एक बंदर हूँ, प्रभु! -

नारि नयन सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा।।
लोभ पाँस जेहि गर न बँधाया।
सो नर तुम्ह समान रघुराया।। ४/२०/४,५

काम, क्रोध और लोभ आदि को जो जीत सके वह तो आपके समान ही है। प्रभु कुछ नहीं बोले, सुग्रीव की ओर देखकर हँसने लगे। मानो, वे पूछ रहे हों - सुग्रीव! तुम तो मेरे मित्र हो और मेरा मित्र तो मेरे समान ही होगा या नहीं? पर सुग्रीवजी कहने लगे- हाँ प्रभु! काम, क्रोध और लोभ को तो जीतना ही चाहिये। मैं भी चाहता था, जीत लूँ। पर मुझे यह भी ज्ञात है कि यह कार्य तो अपने पुरुषार्थ से होता नहीं -

यह गुन साधन तें नहिं होई।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई।। ४/२०/६

इन तीनों पर तो बस आपकी कृपा से ही विजय प्राप्त की जा सकती है। मानो सुग्रीवजी का संकेत था कि महाराज! यदि आपने कृपा की होती तो मैंने भी इन्हें जीत लिया होता, पर यदि नहीं जीत पाया तो इसका अर्थ है कि आपने ही कृपा नहीं की! इसे सुनकर प्रभु को क्रोधित होना चाहिये था। वे कह सकते थे कि भूल तुमने की और इसका दोषारोपण मुझ पर कर रहे हो? पर प्रभु खूब हँसे और सुग्रीव को गले से लगाते हुए बोले- तुम तो मुझे भरत के समान प्रिय हो -

तब रघुपति बोले मुसुकाई।
तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई।।४/२०/७

सुनकर आश्चर्य होता है - कहाँ सुग्रीव और कहाँ श्रीभरत! प्रभु को सुग्रीव में भरत कहाँ से दिखायी दे गये? पर मानो सुग्रीव की बातें सुनकर प्रभु को स्मरण हो आया कि भरत ने भी प्रभुकृपा को छोड़कर, अपने जीवन में अपनी कोई अन्य विशेषता स्वीकार नहीं की और सुग्रीव भी कृपा की ही बात कह रहे हैं! इसलिए प्रभु की उदार दृष्टि में दोनों बराबर हो गये। भरतजी के चरित्र में तो यह पग-पग पर दिखायी

देता है। यहाँ तक कि प्रभु जब श्रीभरत को पादुका भी देते हैं तो गोस्वामीजी मानस में यही लिखते हैं कि-

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। २/३१५/४

प्रभु ने कृपा करके पादुका दी। भगवान् के सभी भक्त प्रभु की कृपा ही चाहते हैं, ऐसा वर्णन मानस में बार-बार आता है।

हनुमान्‌जी जब लंका से श्रीसीताजी का समाचार लेकर लौटते हैं तो प्रभु उनसे कहते हैं - हनुमान्! मैं तुम्हारे ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। हनुमान्‌जी ने कहा- महाराज! यदि आप ऐसा सोचते हैं तो मैं एक उपाय बताता हूँ। आप अपनी भक्ति मुझे दे दीजिये।
क्यों नहीं दूँगा पुत्र! तुमने भी इतना बड़ा पुरुषार्थ किया है, इतनी बड़ी साधना की है।

नहीं, नहीं महाराज! साधना से, पुरुषार्थ से मैं भक्ति नहीं चाहता, क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आपकी भक्ति तो केवल आपकी कृपा से ही मिलती है, अतः प्रभु! -

नाथ भगति अति सुखदायनी।
देहु कृपा करि अनपायनी।। ५/३३/३

आप तो कृपा करके मुझे अपनी भक्ति दे दीजिये। हनुमान्‌जी केवल प्रभु की कृपा चाहते हैं। अशोकवाटिका के प्रसंग में भी यह बात हमारे सामने आती है।

हनुमान्‌जी को माँ ने आशीर्वाद देते हुए कहा-

अजर अमर गुननिधि सुत होहू। ५/१६/३

पुत्र! तुम अजर हो जाओ, अमर हो जाओ, सारे गुण तुममें आ जायँ। इसे सुनकर हनुमान्‌जी को कोई विशेष आनंद नहीं आया। पर जब श्रीसीताजी ने कहा कि-

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना।
निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।। ५/१६/४

हनुमान्‌जी को किष्किन्धा से श्री सीताजी की खोज में चलते समय प्रभु ने पास बुलाकार समझाया था कि क्या-क्या कार्य सम्पन्न करने हैं। पर जब हनुमान्‌जी लंका से वापस लौटने लगे तो माँ ने इससे बिलकुल उल्टी बात कही। उन्होंने कहा- हनुमान्! अब तुम्हें कुछ भी

नहीं करना है, जो कुछ भी करना होगा, वे प्रभु ही करेंगे। इस तरह प्रभु की कृपा का आशीर्वाद देकर माँ ने हनुमान्‌जी को कृतकृत्य कर दिया। इसीलिए हनुमान्‌जी के लंका से लौटने पर जब प्रभु ने उनसे पूछा कि हनुमान्! तुम्हारी इस यात्रा में जाने और वापस लौटने के अनुभवों में कुछ अन्तर था क्या? तो उन्होंने कहा - हाँ, महाराज! अंतर था। जाते समय तो पग-पग पर विघ्न आये। मैनाक, सुरसा, सिंहिका और लंकिनी आदि के रूप में कई बाधाएँ आयीं।

और लौटते समय कौन-कौन मिले?

कोई भी नहीं मिला प्रभु! वापसी की यात्रा तो बिलकुल निर्विघ्न रूप से संपन्न हो गयी। सुनकर आश्चर्य होता है - यात्रा में जाते समय जो-जो स्टेशन पड़े वापसी में भी वे ही स्टेशन पड़ने चाहिये थे। पर हनुमान्‌जी ने अंतर बताते हुए कहा - प्रभु! मेरे जाने और लौटने के मार्ग अलग-अलग थे। मैं साधना के मार्ग से गया था, इसलिए बाधाएँ तो स्वाभाविक रूप से आनी ही थीं। पर लौटते समय मैं कृपा-मार्ग से आया और प्रभु-कृपा में तो बाधा आने की संभावना ही नहीं है। साधना के मार्ग में बाधाएँ तो हो सकती हैं पर प्रभु की कृपा का मार्ग पूरी तरह से निष्कंटक है। इसीलिए सभी भक्त प्रभु से उनकी कृपा की प्रार्थना करते हैं।

अब मैं कृपा की बात क्या कहूँ? मेरे लिये यह केवल भाषण का विषय नहीं है। मैं तो जीवन में प्रतिक्षण प्रभु की कृपा का ही अनुभव करता रहता हूँ। जो कुछ लिखा या कहा जाता है, भले ही वह मेरे द्वारा होता हुआ दिखायी देता हो, और लोगों को लगता हो कि वह मेरे किसी कठिन साधना या चिन्तन का फल है, पर मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि वह तो -

केवल कृपा तुम्हारिहि कृपानंद संदोह। ७/३६

केवल प्रभु की कृपा ही है। रायपुर में कई संत एकत्रित हुए थे। चर्चा चलने लगी कि भगवान् ने किसकी कब परीक्षा ली। सबने अपना-अपना संस्मरण सुनाया। वहाँ के स्वामीजी महाराज ने मुझसे पूछ दिया कि आपकी कभी परीक्षा हुई कि नहीं? बार-बार हुई।

कब पास हुए कब फेल हुए? मैंने कहा- मैं तो कभी फेल नहीं

हुआ।

बड़ा आश्चर्य है!

मैंने कहा- स्वामीजी अपनी योग्यता से तो मैं कभी पास ही नहीं हुआ, जीवन भर कृपांक से ही पास हुआ हूँ। आप सब जानते ही हैं कि परीक्षा में जब छात्र बहुत थोड़े से अंकों से अनुत्तीर्ण हो रहा हो, तो उसके थोड़े से अंक बढ़ाकर, उसे उत्तीर्ण कर दिया जाता है। मैं भी जीवनभर भगवत्कृपा के द्वारा ही सफल होता रहा हूँ। प्रभु की कृपा का जीवन में अनुभव हो जाना यह भी प्रभु की कृपा का ही फल है और प्रभुकी कृपा की विशेषता है कि वह कभी समाप्त नहीं होती।

●●●